ISSN: 2456–5474 RNI No.UPBIL/2016/68367 Vol-3* Issue-3*April- 2018
Innovation The Research Concept

यमुना उत्पत्य के परम्परागत शिल्प उद्योग

चन्द्रमोहन रावत
प्रवक्ता,
शिक्षाशास्त्र विभाग,
राजकीय इण्टर कालेज,
मालसी

सारांश

आधुनिकीरण, बाजारीकरण, मुद्रा विनिमय अर्थव्यवस्था, जनसंचार, मोटर यातायात, आदि कारणों से परम्परागत सामाजिक व्यवस्था लागतार परिवर्तित हो रही है। लोक संस्कृति का स्वरूप तीव्रता से बदल रहा है। विलुप्त हो रही स्थानीय संस्कृतियों और उनसे जुड़े हुए भौतिक उपादानों का संकलन और लेखांकन करें। जिससे अपनी परम्परागत धरोहर का सम्पूर्ण ज्ञान आने वाले पीढ़ियों को प्रदान किया जा सके। इतिहास में पिछले कुछ दशकों से पर्यावरण इतिहास धीरे–धीरे एक महत्वपूर्ण शोध का विषय बनता जा रहा है। पर्यावरण इतिहास को लिखते समय ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में बदलते जो रहे उत्पादन और वितरण के श्रोतों के स्वरूप का अध्ययन भी महत्वपूर्ण है। उत्पादन और वितरण के बदलते स्वरूप से जुड़ी हुई भौतिक लोक संस्कृति है। इसलिए वर्तमान अध्ययन में यमुना उत्पत्यका की आर्थिक लोक संस्कृति की विलुप्त होती हुई विरासत को अध्ययन की विषय वस्तु बनाया गया है।

मुख्य शब्द : यमुना उत्पत्य, लोक संस्कृति, आधुनिकीरण।

प्रस्तावना

पिछले दो शताब्दियों से यमुना का परम्परागत समाज द्रुत गति से बदल राह है। आधुनिकीरण, बाजारीकरण, मुद्रा विनिमय अर्थव्यवस्था, जनसंचार, मोटर यातायात, विद्युतिकरण आदि कारणों से परम्परागत सामाजिक व्यवस्था लागतार परिवर्तित हो रही है। लोक संस्कृति का स्वरूप तीव्रता से बदल रहा है और उसके बहुत कुछ अंश विलुप्त प्रायः हैं।

सामाजिक इतिहासकारों एवं नृवंशीय अध्यासयताओं के लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है कि वे विलुप्त हो रही स्थानीय संस्कृतियों और उनसे जुड़े हुए भौतिक उपादानों का संकलन और लेखांकन करें। जिससे अपनी परम्परागत धरोहर का सम्पूर्ण ज्ञान आने वाले पीढ़ियों को प्रदान किया जा सके। इसके अतिरिक्त जीवंत संस्कृति का तत्कालिक अध्ययन चली आ रही लोक परम्परा के वर्तमान स्वरूप का बोध करायेगी व भविष्य के लिए ऐतिहासिक व नृ–वंशीय भौतिक संस्कृति का संग्रहण व लेखांकन हो सकेगा।

अध्ययन का उद्देश्य

परम्परागत लोक संस्कृति–पर्यावारण संगत स्थानीय संसाधनों पर आधारित थी। उनका उत्पादन तथा वितरण स्थानीय उपलब्धता पर आधारित था। इस प्रकार से यमुना क्षेत्र की स्थानीय भौतिक लोक संस्कृति का अध्ययन मनुष्य के द्वारा अपने पर्यावरण के लिए किया गया प्राकृतिक संयोजन का एक महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। इतिहास की आधुनिक प्रवृत्तियों पर काम करने वाले शोधार्थियों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि लगातार परिवर्तित व विघटित होती हुई लोक संस्कृति तथा विलुप्त हो चुकी संस्कृति और उसके भौतिक स्वरूप का ऐतिहासिक एवं नृ–वंशीय परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया जाय।

अवधारणा

अतः कहा जाता है कि पश्चिमी गढ़वाल के शिल्प उद्योग स्थानीय संसाधनों पर आधारित थे। जिनका स्थानीय लोगों द्वारा भरपूर उपयोग किया गया और पुराने समय से आज तक स्वावलम्बी जीवन यापन किया।

शोध विधि तथा महत्ता

आवश्यकता अविष्कार की जननी है और इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु मनुष्यों ने प्रायः जीवन के सभी क्षेत्रों, घरेलू उत्पादों, कृषि, युद्ध, पशुचारण आदि से सम्बन्धित यंत्रों एवं लोक तकनीक को जन्म दिया। लोक तकनीक एक विशेष क्षेत्र की भौगोलिक ऐतिहासिक परिस्थितियों से प्रभावित रही हैं। मनुष्य के सामाजिक विकास के साथ ही लोक तकनीक का विकास प्रारम्भ हुआ।यमुना उत्पत्यका की भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संरचना विविधता से भरी है। यमुना उत्पत्यका क्षेत्र विभिन्न पट्टियों में भी यह विविधता दृष्टव्य है। लोक

तकनीक के क्षेत्र में यह क्षेत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल से यहाँ के लोगों ने जीवन यापन से सम्बन्धित अनेक तकनीकों का विकास किया। जिससे यहाँ की संस्कृति के बारे में हमें ज्ञान प्राप्त होता है। सम्पूर्ण लोक यंत्र तथा तकनीक हमारी धरोहर से यंत्र या लोक तकनीक पूर्ण रूप से विलुप्त न हो, जो इसी तथ्य को मध्य नजर रखते हुए इस शोध कार्य का महत्व बढ़ जाता है। ताकि इन विषय के लिए इन विलुप्त हो संस्कृति को हम अपने भावी जीवन के लिए भी परिचय करा सकें।

पश्चिम गढ़वाल का यमुना उत्पत्य का क्षेत्र अपने परम्परागत शिल्प उद्योगों के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ की अर्थव्यवस्था मुख्यतया कृषि एवं पशुपालन पर आधरित रही है और लोगों द्वारा स्थानीय संसाधनों का उपयोग कुटीर उद्योगों के माध्यम से कृषि और पशुपालन में उपयोग होने वाली विभिन्न प्रकार के उपकरणों का निर्माण कर अपने आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद बाह्य क्षेत्र में भी इनका निर्यात किया गया।

यहाँ के शिल्प उद्योगों को स्थापित करने में अनुसूचित जाति के शिल्पकारों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जिन्हें 'उन्नदार' नाम से सम्बोधित किया जाता है। जिसका आशय तरक्की या उन्नती से है और समाज में इनकी सम्मानजनक स्थिति रही है। जिनमें बढई (मिस्त्री) द्वारा मकान एवं कृषि कार्यों से सम्बन्धित भिन्न उपकरणों का काम, जुलाहे (बुनकर) द्वारा ऊनी वस्त्रों की बुनाई का काम, औजी (वाजगरी) लोगों द्वारा दर्जी का काम, सोनार सोने चाँदी के जेवरात बनाने वाला, लोहार लोहे के उपकरण और चर्मकार चमड़े के जूते बनाने वाले आदि उपरोक्त में लोहार और सोनार धातु कर्मियों को छोड़कर अन्य सभी शिल्पकारों का काम स्थानीय संसाधनों पर आधारित है। सोनार को छोड़कर अन्य सभी शिल्पकारों का काम स्थानीय संसाधनों पर आधारित है। सोनार को छोड़कर अन्य सभी शिल्पकारों का पारिश्रमिक रबि तथा खरीफ की फसल आने पर कार्य की मात्रा के आधार खाद्यान्न के रूप में दिया जाता है। बढई अथवा मिस्त्री भवन आदि का निर्माण नकद में तथा कृषि से सम्बन्धित उपकरणों के निर्माण का पारिश्रमिक भी खाद्यान्न (डडवार) के रूप में दिया जाता है। शिल्पकार जब भी किसी मालिक के यहाँ पर कार्य करते हैं उस दिन का भोजन भी मालिक अथवा ग्राहक के घर से दिया जाता है और उन्हें सुरा तथा माँस का सेवान भी कराया जाता है। दिन का भोजन मालिक के घर में तथा रात्रि का भोजन शिल्पकार के घर में भेजा जाता है। जिसमें घी भी दिया जाता है।

उपरोक्त शिल्पकारों में लोहार लोग कभी–कभी आय बढाने हेतु अपने गाँवों से बाहर भी शिविर लागते हैं। जहाँ का पारिश्रमिक नकद तथा खाद्यान्न संग्रहित होने पर ये लोग खाद्यान्न संग्रहित होने पर ये लोग खाद्यान्नों को दुकान के व्यापारियों को बेच देते हैं और उसके स्थान पर अपने आवश्यकता की अन्य वस्तुओं को दुकान से क्रय करते हैं। जैसे– चीनी, गुड़, मसाले और वस्त्र आदि। पुराने समय में कृषक लोग भी खाद्यान्न बेचकर दुकानों से अपने आवश्यकता की उपरोक्त वस्तुओं को क्रय करते थे। इसमें यह नियम भी था कि फसल आने से पूर्व भी दुकानों से खरीददारी की जाती थी और व्यापारी लोग फसल के समय घरों में आकर राशन भरते थे। इस प्रथा को 'पंगाल भरना' कहा जाता और उधारी की प्रथा को 'पंगाल' कहा जाता था।उपरोक्त प्रत्येक शिल्पकार तथा सम्बन्धित शिल्पों का अलग–अलग उल्लेख किया जा रहा है। बढई शिल्पकार वर्ग में बढई का स्थान सर्वोच्च है और अपने वर्ग की बड़ी जाति और समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। उच्च जाति के लोग इनकी छुआ–छूत से अधिक परहेज नहीं करते हैं। जो मकानों का निर्माण भी करते हैं, किन्तु कृषि एवं घर गृहस्थी के कार्यों में काम आने वाले अधिकांश उपकरणों का निर्माण इनके द्वारा किया जाता रहा है। जिसके लिए इनको कृषि के मौसम में अतिरिक्त समय देना पड़ता है। क्योंकि कभी–कभी ये लोग मकान निर्माण के कार्यों में संलग्न रहते हैं। गाँव में प्रत्येक मिस्त्री परिवार के अलग–अलग मालिक होते हैं। इनके द्वारा निर्मित उपकरणों का नीचे उल्लेख किया जा रहा है।

हल

यह कृषि का सबसे महत्वपूर्ण उपकरण है, जिससे खेतों की जुताई की जाती है। जो दो प्रकार के होते हैं। 1. नासी हल, 2. कुडहल।

नासीहल

लगभग 2–3 हत्था जोड़ा जाता है। जिसे अणाईंटू कहा जाता है। बीच में लगभग 8′′ लम्बा छेद (होल) करके इसमें हलोटा जोड़ा जाता है। जो पीछे से गोल आकार में बना होता है। जिसे बीच में छेद में डालकर आगे की ओर झूकाकर खड़ा किया जाता है। इसे सही बैठाने के लिए इसमें पीछे आगे 8 या 9′′ लम्बी लकड़ी का टुकड़ा जो हलोटा को उखड़ने नहीं देता है तथा हल चलाते समय इसे बाँसूले से बार–बार ठोका जाता है और सबसे आगे लोहे की फाल जोड़ी जाती है। जिससे समय–समय पर लोहार द्वारा तेज किया जाता है। ताकि यह आसानी से मिट्टी के अन्दर घुस सके। फाल को छोड़कर समस्त हल में बाँज और मोरू की लकड़ी का इस्तेमाल होता है।

समै

यह बैलों को हल से जोड़ने वाला उपकरण है। जिसे बैलों के कन्धे में डाला जाता है तथा इस पर दोनों ओर लगे शैलों में एक पर छोटी रस्सी का टुकड़ा लगाकर बेलों के गले को दोनों सिरों पर बाँधा जाता है। इसके बीचों–बीच लगभग दोनों ओर से हल्का काटकर ऊपर की ओर उभरी एक टुकड़ी जिसे ढेलकी/ढिकुली भी कहा जाता है, में दोनों ओर के खाँचों में नाड़ा (सेलू से बना गोल सुडोल रस्सी का टुकड़ा) फँसाकर हल को जोड़ा जाता है और तत्पश्चात ही जुताई की जाती है। समै मेहल, हिमराई और अखरोट की लकड़ी से बनती है। जिसकी लम्बाई 3′ 3′′ फीट तक होती है।

इस प्रकार के हल में कुडहल जो बाँज का बना होता है, इसके आगे लगभग 1′ की नासी जोड़ी जाती है और आगे की ओर फाल लगायी जाती है। इसका हलोटा भी कुडहल पर जोड़ा जाता है। जिसके आगे की ओर 9′′ या 6′′ पहले एक खाँचा कटा होता है। जिसे जुताई से पूर्व नाड़ा के सहारे समई में फँसाया जाता है। हत्था हेतु कुडहल के पीछे हीलकड़ी जोड़ी जाती है। कुडहल गहराई तक जुताई करता है।यद्यपि अब लोहे के देशी हल

भी चलने लगे हैं, किन्तु पहाड़ों में लकड़ी के हलों को ही पसंद किया जाता है। किन्तु अब लोगों द्वारा देशी हलों से जुताई की जा रही है। इसमें हत्था और हलोटा वाड़ा और मोरू की लकड़ी के ही प्रयोग किये जाते हैं।

मइयां

इससे रोपाई हेतु खेत को तैयार किया जाता है। खेत में पानी भरकर मइयां द्वारा खेत को समतल किया जाता है। इस पर पीछे ही और लगभग 3 फीट लम्बी लकड़ी जोड़ी जाती है। जिसे गागर कहा जाता है। जिसके ऊपर बीचों–बीच बाँज की लकड़ी का हत्था तथा आगे की ओर बाँज की लकड़ी का लगभग 8'–10' फीट गागर जोड़ी जाती है। जिसे 'लाठ' कहा जाता है। यह गोल आकार में होती है, जिसे समैं पर जोड़ने हेतु लकड़ी का लगभग 6' का टुकड़ा जोड़ा जाता है। जिसे 'आर्खी' कहते हैं। 'गागर' के नीचे लगभग 6 या 7 लकड़ी में कंछे जोड़े जाते हैं। जिसे 'घाँगे' कहा जाता है। जो मिट्टी समतल करने का कार्य करते हैं।

दन्दाल

यह भी मइयां के आकार का उपकरण है। किन्तु इसके कंधे लोहे के बने होते हैं। जिन्हें दाँत कहा जाता है। जिनकी लम्बाई लगभग 1 फीट होती है और इनके ऊपर की ओर छिद्र बने होते हैं। जिन्हें गागर के ऊपर लोहे की सरिया से जोड़ा जाता है। ये दाँत मिट्टी को चीरने का काम करते हैं। दन्दाल को उखड़ी (असिंचित) भूमि की फसलों के पौधों तथा कबाड़ों की छँटनी हेतु बरसात में फसलों के ऊपर चलाया जाता है। जिससे महिलाओं को फसलों की निराई–गुड़ाई में सुविधा होती है।

ओखली और घुत्तु

ओखली का उपयोग आमतौर पर धान और कई अन्य अनाजों को कूटने के काम आती है। जो गाँव के निकट के देवदार के जंगल से पुराने कटे हुए पेड़ों के तनों को उखाड़कर बनायी जाती है। इन तनों को पहले कुल्हाड़ी तथा बाँसूले से तराशा जाता है। उसके बाद मिस्त्री द्वारा इसके शीर्ष के गोल भाग के बीचों–बीच छेनी लगभग 1 फीट गहरी गोल कुण्डली बनाई जाती है। जिसे कुटने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। इसे खुले जगह में स्थापित किया जाता है। बरसात के अवसर पर इसको पत्थर की स्लेट से ढक दिया जाता है।

जहाँ देवदार उपलब्ध नहीं होता है वहाँ चौकोर पत्थरों पर ओखलियाँ बनाई जाती हैं। लकड़ी में केवल देवदार की ओखलियाँ बनाई जाती हैं। क्योंकि इसकी लकड़ी लम्बे समय तक टिकाऊ होती है और गाँ में एक मोहल्ले की ओखलियाँ एक स्थान पर होती हैं। सांयकाल में धान या अन्य अनाजों को कूटते समय इन स्थानों पर बड़ी चहल–चहल रहती है।

ओखली के घिस जाने पर गोलाई में देवदार का टूकड़ा बनाकर मिस्त्री द्वारा इसमें बैठाया जाता है। जिससे पुनः कई सालों तक ओखली को ध्यान कूटने हेतु इस्तेमान किया जाता है।

घुत्तु

घुत्तु भी बहुत मोटे देवदार के तने से बनाया जाता है। हय आकार में ओखली से चार गुना बड़ा होता है। तने की गोलाई में तरासकर इसे इसके बीचों–बीच लगभग 2–3 फीट की परिधि में अन्दर की ओर 2 फीट गहराई तक गोल कुण्ड बनाया जाता है। जिसका उपयोग मोटे कम्बलों तथा बकरी के ऊन से बने मोटे आसनों को धोने के लिए किया जाता है। घुत्तु गाँव में व्यक्तिगत भी होते हैं और जलाशयों तथा पानी के धारों के निकट इन्हें कपड़े धोने के उद्देश्य से लगाया जाता है। जहाँपर लोग पर्व, त्यौहारों के अवसर पर कपड़े आदि धोया करते हैं और बरसात में जल संग्रह हेतु भी उपयोग किया जाता था।

लकड़ी के बर्तन

बढई अथवा मिस्त्रियों द्वारा घर गृहस्थी के काम में आने वाले अनेक प्रकार के लकड़ी के बर्तन बनाये जाते हैं। जिनमें दूध संग्रह, पानी संग्रह, मट्ठा छानने, आचार रखने, नमकदानी और तम्बाखू रखने के बर्तन प्रमुख हैं। पुराने समय में दूध रखने तथा संग्रह हेतु लकड़ी के बर्तनों का उपयोग किया जाता था। जिन्हें स्थानीय लोग पाबुड़ी अथवा परोटी कहते हैं और छाछ छानने के बड़े बर्तन को परिया कहा जाता है। परोठियों के आकार के आधार पर उनके नाम होते हैं। 1 किलो के लिए 'सेरवा', 3 किलो के लिण पयाड्या और 7–8 किलो धारक क्षमता वाली परोठी को 'पारी' कहा जाता है।

दूध को प्रतिदिन उबालकर गुनगुना होने के बाद परोठियों में इसकी पल्टी की जाती है और 15–20 किलो दही जमने के बाद इससे मक्खन छानने हेतु परोठियों की दही के परिया में उडेल दिया जाता है। परिया को एक स्टैण्ड के पास खड़ा किया जाता है। जिस पर छोलनी को छलनी लकड़ी के हुकों के बीच डालकर जोर से घुमाया जाता है। कुछ देर घुमाने के बाद छाछ से मक्खन अलग निकल जाता है और मक्खन को छानकर पतीले में गरम करके इसकी छाछ ऊपर आ जाती है और शुद्ध घी को जमाने हेतु अन्य बर्तनों में रखा जाता है।

बढ़ई के अन्य कार्य

माह फरवरी और सितम्बर में ग्रामीण लोग जंगल में जाकर बाँज और मोस् के नासें (हल) तथा हलोटा बनाकर लाते हैं। जिनका आकार सही नहीं बना होता है, उनको तरासने के लिए मिस्त्री की आवश्यकता होती है। हनमें हरापन रहते हुए हनको तरासने में मिस्त्री को सुविधा होती है। मिस्त्री द्वारा इनको तरासकर सही आकार दिया जाता है और इस दिन मिस्त्री के लिए मालिक के घर में ही भोजन प्रदान किया जाता है।

कृषि कार्यों में काम आने विभिन्न प्रकार के लोहे के औजारों जिनमें कुदाल, कस्सी (बड़ी कुदाल), दराँती, पाठल, कुल्हाडियाँ (बड़ी–छोटी), डांगरा (फरसा), डांगरी (छोटा फरसा), सग्यात्रा (चाकू आकार में बना जिसे सब्जी काटने के लिए प्रयुक्त किया जाता है), फेण्डू हल्का गोलाकार औजार लगभग एक फीट लम्बा जिसका उपयोग मुख्य तथा रिंगाल के चीरखों को साफ करने के लिए किया जाता है और मेड़ानू इसका उपयोग भेड़ों की ऊन काटने के लिए किया जाता है। इन सभी औजारों पर सफाई से तराशकर लकड़ी के हत्थे अथवा बिण्टे भी मिस्त्री द्वारा लगाया जाते हैं। पशुओं को पिण्डा (दाना) देते तथा कपड़े धोने हेतु टाठें, चौकोर तथा वर्गाकार में

बनाये जाते हैं तथा तिलहनों से तेल निकालने की कुनालियाँ भी बनायी जाती हैं। किन्तु अब तेल निकालने के लिए कोल्हू खूलने से इनका उपयोग कम हो गया है।

रूड़िया और रिंगाल के उपकरण

शिल्पकार जाति में 'रूड़िया' का मुख्य कार्य घर गृहस्थी, कृषि कार्य में काम आने वाले रिंगाल से विभिन्न प्रकार के उपकरण बनाये जाते है। जिनके लिए रिंगाल की व्यवस्था मालिक के द्वारा की जाती है। रूड़िया फेण्डू नामक औजार से रिंगाल की बारीक चिरान करता है। इसके 'छेल (चिरखे)' जितने भी लम्बे रहे अच्छा माना जाता है और चिरखों की सफाई भी 'फेण्डू' औजार से ही की जाती है। बुनाई से पूर्व बाँज और मोरू की लकड़ी के दले (पतले तथा लम्बे चीरखे) बनाये जाते हैं और उपकरण की बुनाई से पूर्व दलों से ढाँचा बनाया जाता है। जिसके बाहर से रिंगाल के लम्बे, बारीक छेलों (चीरखों) से बुनाई की जाती है। छोटी टोकरियों तथा एक स्थान पर रहने वाले उपकरणों पेस्टा आदि के लिए रिंगाल की छड़ी के दो फाड़ कर उसी से दले बनाये जाते है। पुराने समय यह व्यवसाय गाँवों तक ही सीमित था, किन्तु अब रूड़िया लोग अधिक से अधिक संख्या में उपकरण बुनकर बाजार में फड़ लगाकर विक्रय करते हैं। मैदानी भागों से आये पर्यटक रिंगाल से बनी हुई वस्तुओं को अधिक पसंद करते हैं। जो वस्तु को बाजार में विक्रय हेतु बनायी जाती है। इनके लिए सामग्री रूड़िया स्वयं की व्यवस्था करते हैं या अब यात्रा मार्गों पर रूड़िया लोग अपने निर्मित वस्तुओं के स्टॉल लगाते हैं। स्थानीय रूड़िया शिल्पकारों द्वारा बुने जाने वाले प्रमुख उपकरण निम्नलिखित है–

गिल्टा

यह शंक्वकार में बाना होता है। जो घरेलू तथा कृषि दोनों कार्यों में इस्तेमाल होता है। जिसकी धारक क्षमता 30 से 40 किलो तक की होती है। इसमें सामान भरकर पीठ में ले जाने में सुविधा होती है।8 जिसमें आगे की ओर भीमल रेशे से बनी रस्सी के काखू (जैसे पीठ में लगते हैं) लगाये जाते हैं। जिससे पीठ में उठाने हेतु सुविधा होती है। इसका उपयोग खेतों में गोबर ढोने, घर से दूर आवश्यक सामान जैसे रस्सियाँ (जिन बोझ बोझ लादे जाते हैं), और बर्तन फसलों की बुआई के समय बीज थैलियों में भरकर उन्हें भी गिल्टे में रखकर ले जाया जाता है। बिना उपयोग किये गये गिल्टों में शादी विवाह के अवसर पर इसमें पूरियाँ तथा रोटियाँ रखी जाती है। जालीदार होने के कारण इसमें रखी भोज्य सामग्री खराब नहीं होती है। एक पशुशाला से दूसरे पशुशाला में पशुओं के स्थानान्तरण के समय भी सामान ढोने हेतु इनका उपयोग किया जाता है। कृषि कार्य करने वाली ग्रामीण महिलाओं के पीठ में इसे हर समय देखा जा सकता है। जिसमें दोनों ओर कुछ न कुछ सामान भरा होता है। मण्डवा, झंगोरा अन्य फसलों की बालियों को भी इसमें भरकर लाते हैं।

गिल्टी

यह भी गिल्टे के समान छोटे आकार में बनी होती है। जिसका उपयोग खेतों में काम कर रहे महिला, पुरुषों तथा मजदूरों के लिए भोजन तथा दोफारी (दिन का खाना) ले जाने के लिए किया जाता है। भोजन के साथ–साथ खाने तथा पानी पीने के बर्तन भी इसी में रखे जाते हैं और बाद में समस्त खाली बर्तन इसी में रखकर वापस लाये जाते हैं। छोटी उम्र के बच्चे खिलौने के तौर पर इसे गोबर ढोने तथा फसल जाने के लिए उपयोग करते हैं। जो इसे खिलौने की तरह भी इस्तेमाल करते हैं।

पेस्टा

यह रिंगाल का उपकरण नीचे से गोल तथा ऊपर की ओर इसकी गोलाई कम होती चली जाती है। इसे नया बनाने के बाद गोमूत्र तथा गोबर का गाड़ा घोल बनाकर कूची से लिपाई की जाती है। जिससे इसके छिद्र भर जाते हैं। सूख जाने पर इसे घर में एक कोने में स्थायी रूप से रख दिया जाता है। जिसमें चावल, दालें और तिल आदि रखे जाते हैं। गोबर तथा गोमूत्र में कीटनाशक क्षमता के कारण इसमें रखा हुआ खाद्यान्न लम्बे समय तक खराब नहीं होता है।

डाल

यह ढोल के आकार में बनी होती है। जिसकी ऊँचाई लगभग पौन मीटर तक होती है। जिसे गेहूँ तथा मन्डुवा का आटा रखने के लिए उपयोग में लाया जाता है। क्योंकि कट्टों तथा जल्ड़ों (भेड़–बकरी के खालों के थैले) में रखा हुआ आटा जल्दी खराब हो जाता है। इसलिए थैलों से इसमें आटे को पल्टी कर दिया जाता है। इसे खुले रखा जाता है, ताकि आटे पर हवा लगती रहे। पेस्टा के समान इसकी भी गो–मूत्र और गोबर के घोल से लिपाई की जाती है।

छाबड़ी

यह एक गोल आकार की टोकरी है। जिसे नीचे लगभग चारों ओर गोलाई में एक–डेढ़ इंच के स्टैण लगे होते हैं और एक स्टैण्ड बीच में होता है। यह गोल आकार में बनी होती, जिसे शादी ब्याह और पूजा कार्यों के अवसर पर रोटियाँ रखने के लिए उपयोग लाया जाता है। यह ऊपर से गोल तथा जालीदार होती है। जिसमें रखे पकवान खराब नहीं होते हैं।

सूप : इसका उपयोग फटक कर चावल से भूसा अलग किया जाता है। अन्य खाद्यान्नों को फटकने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। फटकने की इस प्रक्रिया को निष्टना कहा जाता है। खलिहानों में फसल निकालते समय इसका विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। जिसमें दाना भरकर ऊपर से हवा में धीरे–2 दाना छोड़ा जाता है जिससे भूसा उड़ जाता है और दाने की एक जगह ढेर लग जाती है। शिल्पकारों के डडवार को इसी से दिया जाता है। उनके काम की मात्रा के अनुसार सूपों की ही डडवार का माप बनाया जाता है कि उनका पारिश्रमिक कितने सूप बनते हैं?

डालकी अथव टोकरियाँ

घर के विभिन्न कार्यों के प्रयोग जन हेतु विभिन आकारों में रिंगाल की टोकरियाँ बनती हैं। जिनमें रोटी तथा अन्य कई प्रकार के खाद्यान्नों को रखने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। पके हुए खाद्यान्नों को रखने के लिए टोकरियों की लिपाई नहीं की जाती हैं। इसके छिद्रों से हवा अन्दर जाने के कारण इसके अन्दर रखे पकवान खराब नहीं होते हैं।

कोठार

कोठार (अन्न भण्डार) से परिवार के लिए सुबह, शाम की खाद्य सामग्री लाने हेतु विभिन्न आकारों एवं धारक क्षमता वाली टोकरियाँ से बनाई जाती हैं। इन्हें ब्याया (शाम) और कलेरी (सुबह का भोजन) की डालकियाँ (टोकरियाँ) कहा जाता है। इनमें सुबह की खाद्य सामग्री सांयकाल तथा सांयकाल की भोजन सामग्री दोपहर में कोठार से लायी जाती है। उसके अलावा अन्य कोई उसके बिना अनुमति के कोठार में नहीं जा सकता है।

ऊन रखने के लिए भी विभिन्न प्रकार के कण्डियों तथा टोकरियों का निर्माण किया जाता है। जिनमें कंधों द्वारा कताई हेतु तैयार की गयी ऊन के गोले जिसे गोड़ा (गोल आकार) कहा जाता है। जिसका आकार काफी बड़ा होता है और ऊन की तकली पर कातने के पश्चात इसके गोले बनाकर उसे कील अथवा खूँटी पर टांग दिया जाता है। इस गोले को डिंगोरा कहा जाता है। डिंगोरा का अर्थ भी 'गोल' से है। दो गोले बन जाने पर दो गोलों की ऊन को दोहरा करके बोरूआ (बड़ी तकली) पर घुमाकर बंटा जाता है। फिर इसका एक गोला बनता है। इसके बाद यह बुनाई ऊन बुनाई के लिए तैयार हो जाती है। ऊन रखने के लिए टोकरी को 'डाल्का' (बड़ी टोकरी) कहा जाता है।

कुछ टोकरियाँ जिन्हें कण्डी कहा जाता है। जिनमें खेतों में काम करने वाले लोगों के लिए दोफारी अथवा नाश्ता ले जाते हैं। यह गोल आकार की होती हैं। जिसके ऊपर हत्था तथा ढक्कन भी लगा होता है। ऊन कातने की सामग्री को रखने के लिए भी कण्डियाँ बनती हैं। यह गोल आकार की होती है। जिसकी ऊपर की ओर गोलाई कम होती चली जाती है। इस कण्डी में ऊन का गोला तथा तकली रखे जाते हैं। जिसे लोग उठाकर कहीं भी ले जाते हैं। पशुचारण करने वाले लोग दिन में इसको साथ ले जाते हैं तथा कहीं पर भी बैठकर ऊन की कताई करते हैं।

खल्डा और फाच

भेड़–बकरी के खालों से विभिन्न प्रकार के थैले तैयार किये जाते हैं। जिनका उपयोग खलिहानों से अनाजों को भरने के लिए किया जाता था। सुदूरवर्ती क्षेत्रों में आज भी इस प्रकार के थैले बनाये जाते हैं। ये आकार में छोट–बड़े होते हैं। छोटे थेलौं का उपयोग मन्डुवा तथा गेहूँ रखने के लिए, घर से घराट अथवा पनचक्की में पिसाई के लिए, जिसकी क्षमता 50 किलो या इससे अधिक होती है। इसके ऊपर से एक अन्य खाल जोड़ी जाती है। जूट और प्लास्टिक का प्रयोग होने के कारण अब इसका प्रचलन बन्द हो गया है, किन्तु पशु चारक क्षेत्रों के लोग आज भी इसका प्रयोग करते हैं।

विभिन्न प्रयोजनों हेतु अलग–अलग प्रकार के थैले बनाये जाते थे। भेड़–बकरी के छोटे बच्चों (मेमनों) के मरने पर उनकी खाल से भी थैले बनते थे। फांच को बकरी के ऊन के मोटे तागों से तैयार किया जाता है। ऊन की मोटी कताई करके इसे बुना जाता है। तत्पश्चात इससे थैले सिले जाते हैं। पुराने समय में दो थैलों को एक साथ सिलकर इसमें राशन भर कर भेड़ पालक लोग रवांई, जौनपुर तथा जौनसार–भाबर से राशन भरकर इन फांचों को भेड़–बकरियों पर लाद कर घरों तक पहुँचते थे।

लौह उपकरण

यह गृहस्थी तथा खेती के काम में आने वाले विभिन्न प्रकार के उपकरण लोहार के द्वारा तैयार किये जाते हैं। जिनमें निराई–गुड़ाई की कुदाल, कस्सी (बड़ी कुदाल, किन्तु इसका हत्था भी कुदाल से कई गुना लम्बा होती है), दराँतियाँ, छोटे–बड़े आकार के डांगरे (फरसे) जिनका उपयोग लकड़ी तथा पत्तियों को काटने के लिए किया जाता है। पाठल (बड़ा दराँती) इस हथियार का प्रयोग अमतौर पर मेडाला (भेड़ पालक) लोग करते हैं। जिससे लोग दिन के समय जंगल में बाँज और मोरू के पेड़ों में चढ़कर इनसे पत्तीदार टहनियाँ काटते हैं और नीचे गिरने पर भेड़–बकरियाँ इनसे पत्तियाँ खाते हैं। सर्दियों में यह प्रतिदिन का नियम होता है। क्योंकि इन दिनों में वनों में हरा घास नहीं होता है।

ऊन तथा ऊनी उद्योग

इस क्षेत्र में सबसे सम्पन्न व्यवसाय में ऊन तथा उससे बनने वाले विभिन्न प्रकार के उपकरणों से सम्बन्धित उद्योग रहा है। पुराने समय में हर महिला तथा पुरुष इस कार्य में दक्ष थी। महिलायें ऊन की धुलाई, सफाई तथा कंधों द्वारा ऊन को बारीक करती थी और उसके बाद उसकी लगभग 1'' पट्टियाँ बनाकर उसके गोड़े (गोले) बनाती थी। जिससे तकली पर कातने में उनको सुविधा होती थी। इस प्रकार उन ऊन को रंगों के अनुसार विभिन्न प्रकार की वेण्डियां (पट्टे) बनाये जाते थे। जिनकी चौड़ाई 1फीट तथा लम्बाई 15–20 फीट होते थे। जिनसे कोट, पेंट, कमीज, फड़जी(लम्बा ऊनी चोगा), सोनतण (ऊनी पजामा), महिलाओं के लिए चोल्टी (ऊनी कुर्तानुमा वस्त्र) और पखौटे जिनमें कई आकार के डिजाइन बनते हैं। ऊन से बने पखौटे, महिलायें धोती एवं घाघरा के स्थान पर पहनती थी।

ऊन की कताई लोग स्वयं ही अपने घरों में करते थे। बुनाई हेतु गाँव में निवास करने वाले बुनकरों के खड्डियों में कराई जाती थी और अधिकाँश बुनाई शीतकाल में किन्नौर से आने वाले बुनकर करते थे। जो शीतकाल में यहाँ रहते थे और ग्रीष्म काल में खाद्यान्न के रूप में अपनी बुनाई का पारिश्रमिक लेकर वापस चले जाते थे। स्थानीय बुनकरों से अच्छी बुनाई किन्नौर से आये बुनकर करते थे। उनके अपने परिवारों तथा ग्राहकों से पस्त्र बनाने में सहयोग लेते थे। शीतकाल के कुछ स्थानीय लोग खेती के काम–काज से राहत मिलने के पश्चात लोग शीतकाल में कताई की गयी ऊन के वस्त्रों तथा पट्टों का स्थानीय बुनकरों से बनवाते थे। किन्तु ऊन से जो भी पट्टे और वस्त्र आदि बनाये जाते थे। उनका उपयोग लोग केवल अपनी आवश्यकताओं के लिए करते थे।

रेशे पर आधारित उद्योग

समस्त यमुना उत्पत्यकों में शीतकालीन हरे चारे हेतु भीमल के वृक्ष खेतों, पशुशालाओं तथा गाँव के आसपास बंजर पड़ी भूमि में बड़ी संख्या में देखने को मिलते हैं। किन्तु बंजर भूमि में लगे वृक्ष पर उसी व्यक्ति का स्वामित्व होगा जिसके द्वारा इसका पौधा रोपण किया

गया है। उस समय लोग भीमल के पेड़ों से टहनियाँ काटकर, संवारकर इसकी पत्तियों को खिलाते हैं। इन टहनियों अथवा छड़ियों से पत्तियों को छाँटकर, छड़ियों की गड्डियाँ बाँधकर सुरक्षित रख देते हैं और खूब सूख जाने के बाद इन गड्डियों को नदी के किनारों तथा गाँव के पास किसी चाल में डूबो देते हैं और लगभग एक माह बाद इसका रेशा उतार देते हैं तथा इसे खूब धोया जाता है, जिससे रेशे (सेठ) पर चमक आय जाये। यहाँ कहावत है कि ''सेठ सुजाई'' अथवा रेशा का स्थानीय नाम सेठ है, किसी भी चीज के लिए कहा जाता है कि क्या तुमने इसके सेठ (रेशा) के समान चमका दिया है। रेशा निकालने के बाद इसकी छड़्डियों को मशाल जलाने तथा आग जलाने के लिए उपयोग किया जाता है। रेशा सेल अथवा सेठ से मुख्यतया पशुओं बाँधने के दाँव, घास एवं लकड़ी लाने की रस्सियाँ, खाद्यान्नों को सुखाने के खाडचें (बड़े त्रिपाल आकार में), बर्तन ले जाने में कुर्जे (जालीदार पिट्ठे बैग) जिसका उपयोग पुराने समय में पशुचारक लोग राशन, दूध तथा घी के बर्तन लाने, ले जाने के लिए किया करते थे तथा जंगल से पशुओं के नीचे बिछावन तथा खेतों में सूखी पत्तियाँ लाने के लिए 'जावरा' (जालीदार बोरा) आदि जिसकी धारक क्षमता 40–50 किलो के लगभग होती थी तथा खाद्यान्न के खल्डों (खाल के थैलों) के सिरों को बाँधने हेतु भी बारीक और लम्बी रस्सियाँ बनायी जाती थी। सेल अथवा सेठ से कोई भी उपकरण से पूर्व पगेठी पर इसकी कताई की जाती है। गोडर खाटल में आज भी यह उद्योग जीवित अवस्था में है। लोग अपनी आवश्यकता के बावजूद रेशा से बने बस्तुओं की कीमत खाद्यान्न के रूप में ली जाती थी।

स्वर्णकार

स्वर्णकार यहाँ के पुराने वासिन्दे हैं। जो पुराने समय में अपने ही घरों में स्वर्ण के जेवरात बनाते थे। किन्तु आज इन लोगों ने अपने अड्डे तथा दुकानें बाजार में बना दिये हैं। यहाँ परम्परा रही है कि लोग स्वयं सोना खरीदकर जेवरात बनाते थे। कभी–कभी सोनार को माँग देकर भी सोना बनाया जाता था। अधिकाँश लोग जेवरात बनाते समय स्वयं भी सोनार के पास बैठ जाते थे। क्योंकि मंहगी धातु से यदि छोटा सा कण भी चुरा लिया जाय तो खरीददार को काफी नुकशान हो सकता है। वैसे सोनारों का विश्वास लोग कम करते हैं। रवाईं में कहावत है कि ''सुनार न त आपड़ बुया क नथल मां न बी सुनु खायी''। अर्थात स्वर्णकार ने अपनी माँ की तक को भी विश्वास में नहीं रखा, उसकी नथ बनाते समय भी सोना खा गया।

सोनार द्वारा अपने अड्डे पर विभिन्न प्रकार के उपकरण बनाये जाते रहे हैं। उनको अलंकृत कर अपने ग्राहक को देता था। सोनार द्वारा नथ, बुलाक, तेमाण्या, कण्ठ, धागुले, पौछीं, वालियाँ, गोरखू झिंबरी, लौंग और कई प्रकार की मालायें चैन आदि भी बनायी जाती हैं। आधुनिक युग में कुछ नये प्रकार के जेवर भी बनाये जाने लगे हैं। जेवर स्वर्ण की मात्रा तोला (10 ग्राम) और आधा तौला (5ग्राम) मात्रा के अनुसार सोने तथा चाँदी दोनों प्रकार के जेवरों की घड़ाई ली जाती थी।

निष्कर्ष

संक्षेप में, यमुना की उपत्यका के परम्परागत षिल्प उद्योग धीरे–धीरे लुप्त होने कगार पर हैं।यहाँ के शिल्प उद्योगों को स्थापित करने में अनुसूचित जाति के शिल्पकारों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जिन्हें 'उन्नदार' नाम से सम्बोधित किया जाता है। जिसका आशय तरक्की या उन्नती से है और समाज में इनकी सम्मानजनक स्थिति रही है। बढई अथवा मिस्त्रियों द्वारा घर गृहस्थी के काम में आने वाले अनेक प्रकार के लकड़ी के बर्तन बनाये जाते हैं। इस क्षेत्र में सबसे सम्पन्न व्यवसाय में ऊन तथा उससे बनने वाले विभिन्न प्रकार के उपकरणों से सम्बन्धित उद्योग रहा है। पुराने समय में हर महिला तथा पुरुष इस कार्य में दक्ष थी। भेड़–बकरी के खालों से विभिन्न प्रकार के थैले तैयार किये जाते हैं। जिनका उपयोग खलिहानों से अनाजों को भरने के लिए किया जाता था। ये आकार में छोट–बड़े होते हैं। छोटे थेलौं का उपयोग मन्डुवा तथा गेहूँ रखने के लिए, घर से घराट अथवा पनचक्की में पिसाई के लिए, जिसकी क्षमता 50 किलो या इससे अधिक होती है। इसके ऊपर से एक अन्य खाल जोड़ी जाती है। जूट और प्लास्टिक का प्रयोग होने के कारण अब इसका प्रचलन बन्द हो गया है। शिल्पकार जाति में 'रूड़िया' का मुख्य कार्य घर गृहस्थी, कृषि कार्य में काम आने वाले रिंगाल से विभिन्न प्रकार के उपकरण बनाये जाते है। जिनके लिए रिंगाल की व्यवस्था मालिक के द्वारा की जाती है। धीरे–धीरे यह परम्परागत षिल्प उद्योग गायब होते जा रहे हैं। इपका ज्ञान मात्र भी पई पीढभ् को नहीं है । अतः इस प्रकार ही परम्परागत धरोहर का सम्पूर्ण ज्ञान आने वाले पीढ़ियों को प्रदान किया जा सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *रावत, डॉ0 प्रह्लाद सिंह – लेख जहाँ आज भी स्वावलम्ब हैं लोग, कामगार हित 1990*
2. *रावत, डॉ0 प्रह्लाद सिंह – 2017 यमुना उत्पत्यका सांस्कृतिक इतिहास (प्रकाशन में)।*
3. *स्थानीय लोगों से साक्षत्कार के आधार पर।*
4. *रावत, डॉ0 प्रह्लाद सिंह – 2017 यमुना उत्पत्यका सांस्कृतिक इतिहास (प्रकाशन में)।*
5. *रावत, डॉ0 प्रह्लाद सिंह – गढ़वाल हिमालय की अर्थव्यवस्था की आधारशीला, लेख संग्रह, 1990–91, पृ0 33–34*
6. *रावत, डॉ0 प्रह्लाद सिंह – 2017 यमुना उत्पत्यका सांस्कृतिक इतिहास (प्रकाशन में)।*
7. *रावत, डॉ0 प्रह्लाद सिंह – 2017 यमुना उत्पत्यका सांस्कृतिक इतिहास (प्रकाशन में)।*
8. *बाजपेयी एस0सी0 – किन्नौर, ए रिमोट लैण्ड इन द हिमालया 1991, इण्डस पब्लिकेशन दिल्ली पृ0 95–96*
9. *रावत, डॉ0 प्रह्लाद सिंह – लेख जहाँ आज भी स्वावलम्ब हैं लोग, कामगार हित 1990*
10. *रावत, डॉ0 प्रह्लाद सिंह – लेख जहाँ आज भी स्वावलम्ब हैं लोग, कामगार हित 1990*

11. रावत, डॉ0 प्रह्लाद सिंह – गढ़वाल हिमालय की अर्थव्यवस्था की आधार शिला लेख संग्रह, 1990–91, पृ0 45–91
12. रावत, डॉ0 प्रह्लाद सिंह – लेख गढ़वाल हिमालय के भेड़ पालक एवं उनकी अर्थव्यवस्था 1992, उत्तराखण्ड अंक–6, पृ0 59–62
13. रावत, डॉ0 प्रह्लाद सिंह – लेख गढ़वाल हिमालय के भेड़ पालक एवं उनकी अर्थव्यवस्था 1992, उत्तराखण्ड अंक–6, पृ0 59–62
14. रावत, डॉ0 प्रह्लाद सिंह – लेख गढ़वाल हिमालय के भेड़ पालक एवं उनकी अर्थव्यवस्था 1992, उत्तराखण्ड अंक–6, पृ0 59–62
15. रावत, डॉ0 प्रह्लाद सिंह – लेख जहाँ आज भी स्वावलम्बी हैं लोग, पूर्वोक्त, पृ0 40–41
16. रावत ध्यान सिंह ध्यानी – ध्यानी 2016, रवांल्टी लोकोक्ति 'अखाण कोश', समय साक्ष्य देहरादून।